बच्चे क्या पढ़ें कौन निर्णय करे ?

❑ सुरेश पण्डित

मुख्य बिन्दु पर चर्चा करने से पहले कुछ फुटकर बातों की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा :-

(1) सदियों पहले प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटककार विलियम शेक्सपीयर ने 'मर्चेन्ट ऑफ वेनिस' में अप्रतिम खलनायक शाइलॉक की अपने बचाव में प्रदर्शित वाक्पटुता पर प्रहार करते हुए लिखा था कि शैतान भी अपना पक्ष प्रबल करने के लिए पवित्र मंत्रों का इस्तेमाल कर लेते हैं । एनसीईआरटी द्वारा प्रकाशित दस्तावेज - 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या' का अध्ययन करते हुए जब जब इसमें मैंने महात्मा गांधी के विचारों वाले उद्धरणों को पढ़ा मुझे शेक्सपीयर की वह उक्ति न जाने क्यों याद आती रही । हम अपनी बात कहते हुए किसी की उक्तियों का सहारा तब लेते हैं जब हमें लगता है कि इससे हमारी बात की वैधता बढ़ जायेगी तथा वह अधिक असरकारी हो जायेगी । पर यहाँ, दस्तावेज में उनका बार बार उद्धृत किया जाना विपरीत प्रभाव छोड़ता है क्योंकि प्रस्तुत तथ्यों और उक्तियों में कहीं दूर दूर तक कोई तालमेल दिखाई नहीं देता ।

(2) अपनी बात को जोरदार बनाने के लिए किसी महान् व्यक्ति के विचारों को उद्धृत करना कोई गलत बात नहीं है । लेकिन आपके कथन में और उस महान् व्यक्ति के सिद्धांत में यदि जमीन आसमान का अंतर हो, आपकी उसके सिद्धांत से सहमति हो ही नहीं, फिर भी अपनी बात को जबर्दस्ती वैधता दिलाने के लिये आप उस महान् व्यक्ति के किन्हीं इतर प्रसंगों में व्यक्त विचारों को मोड़ तोड़कर उनसे अपना पक्ष समर्थित करने की कोशिश करें तो इसे निश्चय ही जायज नही माना सकता ।

(3) इस दस्तावेज की प्रस्तावना में इसे पाठ्यचर्या का प्रारूप माना गया है और इसे तैयार करने से पहले जिन कार्य नीतियों की प्रक्रिया से गुजरा गया है उसका विवरण भी दिया गया है । साथ ही पाठ्यचर्या निर्माण को एक महत्वपूर्ण कार्य मानते हुए इस पर आम सहमति कायम करने हेतु जो प्रयास किये जायेंगे उनका उल्लेख भी किया गया है । लगता है इस कार्य में अधिकतम लोगों की राय जानने और उन्हें यथासंभव समाहित करने का प्रयास किया जायेगा। पर यही प्रस्तावना लोगों की विशाल स्तर पर ली जाने वाली सहभागिता के प्रयासों की पोल भी खोल देती है । इसके तीसरे अनुच्छेद की पहली पंक्तियां ही प्रकट करती हैं कि यह दस्तावेज कुछ अपरिहार्य परिस्थितियों में तैयार किया गया है । दस्तावेज के उस प्रारूप को तैयार करने में बहुत लंबा समय इस कारण नहीं लगाया जा सकता था कि यदि इसमें और अधिक समय लगाया जाता तो पाठ्यक्रम के चिर अपेक्षित नवीकरण और पाठ्य पुस्तकों के नवसृजन का काम और अधिक पिछड़ जाता। खेद है उन अपरिहार्य परिस्थितियों का, जिनकी वजह से इतनी हड़बड़ी में यह प्रारूप बना लिया गया, कहीं कोई खुलासा नहीं किया गया है। इससे समझदार लोगों का यह शंका करना स्वाभाविक हो जाता है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय का यह निर्देश था कि इसे जल्दी से जल्दी तैयार किया जाय ताकि अगले सत्र से लागू किया जा सके । यदि यह सच

है तो यह भी सच है कि इसके बारे में कोई विस्तार से विचार विमर्श नहीं किया गया । कुछ लोगों ने ऊपरी निर्देशों का पालन करते हुए इसे तैयार कर दिया और चूंकि अब पाठ्यक्रम के नवीकरण और पाठ्य पुस्तकों के नवलेखन की जल्दी है इसलिये इस प्रारूप के संशोधन-संवर्धन में लोगों की भागीदारी भी मात्र औपचारिकता निर्वाह हेतु ही होगी अथवा नहीं भी होगी।

(4) पर पाठ्यचर्या का निर्माण और तदनुसार पाठ्यक्रम की रचना व पुस्तकों का लेखन क्या इतनी तेजी से इतने उतावलेपन में होना चाहिये? जिस काम से करोड़ों छात्रों का भविष्य बनने/बिगड़ने वाला हो, करोड़ों अभिभावकों की आशाएं फलीभूत/निष्फल होने वाली हों, और जो कम से कम अगले पांच सालों तक न बदला जाने वाला हो, उस काम को ऐसी अफरा तफरी में निबटा देना क्या उचित है ? इसका निर्णय सुधी पाठक स्वयं कर सकते हैं। पर इस सारी प्रक्रिया का सबसे कष्टदायी पहलू यह है कि पाठ्यचर्या समूह के वे माननीय सदस्य जो निश्चय ही चोटी के शिक्षाविद् होंगे और पाठ्यचर्या के महत्व और उसके निर्माण की प्रक्रिया से भी भली भांति परिचित होंगे, वे कैसे मंत्री महोदय की इच्छा और मंत्रालयिक अधिकारियों के इस तरह के निर्देशों को मानने के लिए न केवल तैयार हो गये बल्कि प्रारूप तैयार कर देने में भी उन्होंने देर नहीं लगाई ? जबकि उन्हें मंत्री और मंत्रालयिक अधिकारियों की पाठ्यचर्या निर्माण संबंधी समझ का तो अंदाजा रहा ही होगा।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का क्रियान्वयन 1986 के बाद से शुरू हुआ और इसका पुनरीक्षण 1992 में किया गया । आचार्य राममूर्ति के नेतृत्व में गठित इस पुनरीक्षण समिति ने तो राष्ट्रीय शिक्षा नीति की मूल अवधारणाओं पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिये थे । फिर भी प्रस्तुत दस्तावेज इन दोनों के बुनियादी दर्शन को अपना मार्गदर्शक मानता है और उसे बरकरार रखने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्शाता है ।

उपरोक्त तथ्यों को पृष्ठभूमि में रखते हुए जब पाठयचर्या के मुख्य बिन्दुओं पर विचार करते हैं तो जगह जगह विसंगतियों, अन्तर्विरोधों और अस्पष्टताओं से रूबरू होना पड़ता है । अध्याय एक की शुरूआत गांधीजी के 1 दिसंबर 1933 के 'हरिजन' में प्रकाशित लेख के एक ऐसे उद्धरण से होती है जिसमें वे सूचना प्रधान शिक्षा की बजाय सृजनशीलता की शिक्षा पर बल देते हैं और मनुष्य को यंत्र बनाने की बजाय मौलिक रचनाकार बनाने का आग्रह करते हैं । ठीक इसके नीचे की पंक्ति में बताया गया है कि भारतीय चिन्तन पद्धति में मानव एक उपयोगी पूंजी और मूल्यवान राष्ट्रीय संसाधान है । अफसोस है भारतीय चिन्तन और गांधीजी ने मनुष्य को कभी पूंजी या संसाधन के रूप में नहीं देखा । दोनों ही इसे निर्माता व नियंता मानते हैं । पूंजी या संसाधन आज की दृष्टि में कितने ही महत्वपूर्ण क्यों न हों, इस्तेमाल किये जाने वाले उपकरण मात्र हैं जबकि मनुष्य मननशील है, विचारवान है, इसलिये उपयोग की वस्तु नहीं है ।

छान्दोग्य उपनिषद का हवाला देकर यह बताया गया है कि वैदिक काल में 18 विषयों का अध्ययन करवाया जाता था। इस तथ्य को जाहिर है नकारा नहीं जा सकता । पर सवाल यह है कि इस तरह की सर्वतोमुखी शिक्षा दी किसको या कितनों को जाती थी, इसे जानबूझकर गोपनीय रखा गया है । दूसरी बात इतने सारे विषयों का ज्ञान मनुष्य को मानसिक रूप से समृद्ध करने के लिये दिया जाता था न कि किसी व्यवसाय विशेष में कुशल बनाने हेतु । व्यवसाय वंश परंपरागत ही होते थे और उनका तकनीकी ज्ञान व व्यावहारिक अभ्यास व्यक्ति को अपने माता-पिता अथवा सजातीय, सवर्ण जानकारों से ही लेना होता था ।

'पाठ्यचर्या का विकास : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य' नामक बिन्दु के अन्तर्गत विद्यार्थियों को क्या पढाया जाना चाहिये, इसका निश्चय कौन करे के शाश्वत प्रश्न को उठाते हुए स्वतंत्रता से पहले इसके बारे में निर्णय के अधिकार को औपनिवेशिक शासकों और उनके अधिकारियों के पास होने की बात कही गई है । कुछ हद तक यह बात सच है पर यह भी सच है कि ब्रिटिश काल में भी देसी रियासतें, डी.ए.वी. सनातन धर्म, रामकृष्ण मिशन आदि की संस्थाएं क्या पढ़ाया जाये इसका निर्णय अपने हाथों में रखती थीं और बुनियादी तालीम तो ब्रिटिश शिक्षा पद्धति का एक स्वदेशी विकल्प थी ही ।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का क्रियान्वयन 1986 के बाद से शुरू हुआ और इसका पुनरीक्षण 1992 में किया गया । आचार्य राममूर्ति के नेतृत्व में गठित इस पुनरीक्षण समिति ने तो राष्ट्रीय शिक्षा नीति की मूल अवधारणाओं पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिये थे। फिर भी प्रस्तुत दस्तावेज इन दोनों के बुनियादी दर्शन को अपना मार्गदर्शक मानता है और उसे बरकरार रखने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता दर्शाता है । 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के आधार पर 1988 में बनी 'प्रारंभिक और माध्यमिक शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठयचर्या: एक रूपरेखा' का अब तक पुनरीक्षण नहीं हुआ था इसलिये उक्त दस्तावेज इसी ओर उठाया गया एक कदम है। स्पष्ट है कि यह कदम इसलिये

नहीं उठाया गया है कि वह पाठ्यचर्या अप्रासंगिक हो चली थी या उसकी उपयोगिता चुक गई थी या उसे अधुनातन (अपडेट) करना जरूरी हो गया था बल्कि इसलिये उठाया गया है कि इस बहाने एक राजनैतिक दल अपनी विचारधारा जहां जहां संभव हो, घुसा सके। यदि ऐसा न होता तो निश्चय ही इसका प्रारूप काफी क्रान्तिकारी परिवर्तन लिए हुए होता। पर ऐसा कहीं हुआ दिखाई नहीं देता ।

पाठ्यचर्या के अपेक्षित सरोकारों की चर्चा करते हुए दस्तावेज इस बात पर जोर देता है कि इसे असमानताओं को कम करने और विद्यालयों की सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देना चाहिये । अर्थात प्रासंगिकता, समानता और उत्कृष्टता पर आधारित होना चाहिये। आगे चलकर इसी प्रसंग में कहा गया है कि शिक्षा की प्रक्रिया और विषय इस ढंग से तैयार किये जायें जो देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रकृति के अनुरूप हों । इतना पढ़ने के बाद पाठ्यचर्या के अवधारणात्मक अंतर्विरोधों व समझ की विसंगतियों को पकड़ पाना सामान्य पाठक के लिए आसान हो जाता है । पहली बात शिक्षा की प्रक्रिया और विषयों में असमानता को कम करने की है । पाठ्यचर्या का संगठन प्रस्तावित करते हुए कहीं भी यह प्रारूप इसमें किसी नई पहल का उल्लेख नहीं करता । इसका तात्पर्य यह है कि यह शिक्षा के वर्तमान ढांचे को यथावत् रखने पर सहमत है । पर यह ढांचा तो विषमता के अनेकों स्तर पैदा करने वाला है और ये स्तर वैयक्तिक सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक असमानता को साफ साफ प्रदर्शित करते हैं। अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र सरकारी शिक्षण संस्थाएं निजी विद्यालय मिशनरी स्कूल (कान्वेंट) और पब्लिक स्कूलों में पढ़ने वाले छात्रों में किस स्तर की समानता है, क्या इससे कोई अनजान है ? एक तरफ बिना मूलभूत या न्यूनतम आवश्यकताओं वाले विद्यालय हैं तो दूसरी तरफ सर्व सुविधायुक्त आधुनिकतम उपकरण सज्जित वातानुकूलित विद्यालय हैं । भला इन दोनों तरह के विद्यालयों के छात्रों में कैसे समानता लाने की बात की जा सकती है। जहां तक विषयों के माध्यम से ऐसी जानकारी देने की बात है जो असमानता दूर करती हो उस ओर भी दस्तावेज ने कोई मौलिक सुझाव नहीं दिये हैं । यह बात पाठ्य पुस्तकों में भिन्न भिन्न तरह से लिख देने या शिक्षकों द्वारा पढ़ा देने से समानता नहीं आ जाती कि हम सब भारतीय एक समान हैं, लड़का, लड़की में कोई अंतर नहीं है, जाति या वर्ण से कोई ऊंचा नीचा नहीं होता आदि । इसी तरह शारीरिक परिश्रम और बौद्धिक काम को भी समान बनाने की कोई पहल इसमें नहीं है । विज्ञान और प्रौद्योगिकी तो आज के समाज में धर्मशास्त्रों से भी अधिक महत्वपूर्ण स्थान बनाये हुए है । मानविकी के विषय फालतू हो गये हैं । इन सब बातों की ओर ध्यान देते हुए शिक्षा प्रक्रिया और पाठ्य विषयवस्तु को प्रासंगिकता, समानता और उत्कृष्टता पर आधारित करने की सदिच्छा कहीं ईमानदारी से फलीभूत होती नहीं दिखाई गई है।

हां, जिन दो बातों की ओर यह दस्तावेज विशेष ध्यान देता है, वे हैं - (1) राष्ट्रीय पहचान का सुदृढीकरण तथा सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण तथा(2) स्वदेशी ज्ञान और मानव जाति के प्रति भारत के योगदान को समाकलित करना। लगता है इनका समावेश करवाने और इनके अनुसार पाठ्य सामग्री का पुनर्निर्माण करवाने के इरादों से ही इस पाठ्यचर्या के पुनरीक्षण की आवश्यकता महसूस हुई, इसका कारण भी स्पष्ट है । पिछली सरकारों को इनमें जब कोई भी कमी नजर आई उन्होंने संशोधन कर लिये; मूल ढांचे से छेड़छाड़ नहीं की । पर मौजूदा सरकार को जहां तहां के छोटे मोटे परिवर्तनों से अपने निहित उद्देश्य सफल होते दिखाई नहीं दिये । इसलिये इसने यह काम करना आवश्यक समझा । आश्चर्य है संविधान समीक्षा के लिए तो बाकायदा एक आयोग गठित किया गया है जिसमें सभी तरह के लोगों को रखने की कोशिश की गई है और उसके पक्ष-विपक्ष में बहस अभी तक चालू है । सरकार को बार बार यह कहना पड़ रहा है कि संविधान के मूल ढांचे से छेड़छाड़ नहीं की जायेगी। पर इसे जहां तहां के छोटे मोटे परिवर्तनों से अपने निहित उद्देश्य सफल होते दिखाई नहीं दिये । इसलिये इसने यह काम करना आवश्यक आवश्यक समझा । पर विद्यालयी शिक्षा की पाठ्यचर्या के पुनरीक्षण का काम गोपनीय तरीके से 'यस बोस' की मानसिकता वाले शिक्षाविदों से इसलिये करवा लिया गया क्योंकि यदि इसे अधिक जनतांत्रिक तरीके से करवाया गया होता तो, प्रारूप तो इसमें निश्चय ही बेहतर बन जाता लेकिन सरकारी मनसूबे पूरे नहीं होते।

बहरहाल आइये देखें इन दोनों उद्देश्यों को लेकर दस्तावेज निर्माताओं की क्या मान्यता है । पहली राष्ट्रीय पहचान के सुदृढ़ीकरण तथा सांस्कृतिक धरोहर के संरक्षण के अन्तर्गत इसमें लिखा गया है कि परिवर्तनोन्मुखी प्रौद्योगिकियों तथा देश की सांस्कृतिक परंपरा की निरन्तरता के बीच सुन्दर संश्लेषण लाया जाना चाहिये । एक ओर शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो भूमंडलीय व्यवस्था को प्रोत्साहन देने में सहायक हो तो दूसरी ओर ऐसी राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय भावना और राष्ट्रीय एकता का विकास करने में सहायक हो जो हमारी राष्ट्रीय पहचान के लिये आवश्यक समझे जाते हैं । इस संदर्भ में गौरतलब बात यह है कि राष्ट्रीयता को अपने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये इस्तेमाल करने वाले लोग जब अपने 'वसुधैव कुटुम्बकम' को वैश्वीकरण का मूल उत्स घोषित करते हैं तो उनके भोलेपन या आत्ममुग्धता पर तरस आता है । वैश्वीकरण का पहला काम राष्ट्रीय सीमाओं को ध्वस्त करना, उनकी अलग पहचान को

मिटाना तथा सांस्कृतिक सामाजिक विविधताओं को नष्ट कर एक ऐसे संस्कृति वाले समाज को स्थापित करना है जो विशुद्ध रूप से भौतिक समृद्धि तथा उपभोग की प्रचुरता की ओर अग्रसर हो । जाहिर है ऐसी स्थिति में भूमंडलीकरण और राष्ट्रीयता की अवधारणा दोनों साथ साथ नहीं चल सकते । हम अपनी शिक्षा द्वारा एक ओर वैश्वीकरण की बंधन विहीन और पारगामी प्रक्रिया के अंग भी बनना चाहते हैं और राष्ट्रीयता की सीमाओं को बरकरार भी रखना चाहते हैं यह भला कैसे संभव है । दरअसल आज के संदर्भ में राष्ट्र एक समस्यामूलक अवधारणा बन गया है । क्योंकि राजनैतिक दृष्टि से जहां यह भाषा, धर्म, शिक्षा, संस्कृति, सभ्यता आदि के एक समान होने की कोशिश करता है वहीं आम लोग अपनी बहुभाषिकता, भूषागत विविधता, सांस्कृतिक, सामाजिक विभिन्नता को बनाये रखने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय पहचान की बात करना एक वर्ग, समुदाय विशेष के वर्चस्व को स्वीकृति देने के अतिरिक्त कुछ नहीं होता ।

हां, जिन दो बातों की ओर यह दस्तावेज विशेष ध्यान देता है, वे हैं – (1) राष्ट्रीय पहचान का सुदृढीकरण तथा सांस्कृतिक धरोहर का संरक्षण तथा (2) स्वदेशी ज्ञान और मानव जाति के प्रति भारत के योगदान को समाकलित करना। लगता है इनका समावेश करवाने और इनके अनुसार पाठ्य सामग्री का पुनर्निर्माण करवाने के इरादों से ही इस पाठ्यचर्या के पुनरीक्षण की आवश्यकता महसूस हुई, इसका कारण भी स्पष्ट है ।

दूसरी बात- 'स्वदेशी ज्ञान और मानव जाति के प्रति भारत के ज्ञान को समाकलित करना' के अंतर्गत कहा गया है कि शिक्षा प्रासंगिक और सार्थक हो तो हमें उसे छात्र की सामाजिक सांस्कृतिक स्थितियों के साथ जोड़ना होगा । एक-स्वदेशी पाठ्यचर्या श्री अरविंद, गांधी, टैगोर तथा कृष्णमूर्ति जैसे कुछेक प्राचीन चिन्तकों के विचारों को प्रसार करेगी । परन्तु इसके शिक्षा संबंधी विचार और प्रयोग तो राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के फ्रेमवर्क और प्रस्तुत प्रारूप से बिल्कुल अलग हैं । ये लोग तो अपने अपने तरीके से श्रम, सौन्दर्य (कला) और अध्यात्म केन्द्रित शिक्षण के बल पर व्यक्ति को आत्मनिर्भर बनाने की बात करते हैं । उपभोग को सीमित, भौतिकता को मर्यादित, विज्ञान को मानवोन्मुख और विकास को व्यक्ति केन्द्रित करने की वकालत करते हैं । फिर इनके सिद्धांतों से भूमंडलीकरण के लिए अपेक्षित व्यवसायोन्मुख शिक्षा का तालमेल भला कैसे बैठ सकता है, हां केवल उनके विचारों की जानकारी ही देनी हो तो बात अलग है । पर लगता है इस तरह के विरोधाभासों को लेखकों ने जानबूझकर खारिज कर दिया है क्योंकि इनका उद्देश्य अपनी मान्यताओं को समाविष्ट करने का है । वे चाहे इस ढांचे में फिट बैठें या न बैठें, इससे इनका कोई मतलब नहीं है ।

आगे कहा गया है 'जहां बच्चों को न्यूटन के बारे में तो पता हैं, वहां स्वयं अपने आर्यभट्ट के बारे में उन्हें कोई जानकारी नहीं है। उन्हें कम्प्यूटर का ज्ञान तो अवश्य है लेकिन वे शून्य की अवधारणा से अवगत नहीं हैं । इसे दस्तावेज लेखक एक दुखद स्थिति मानते हैं ।' पर सवाल यह है कि इन बातों की यहां प्रासंगिकता क्या है? आर्यभट्ट या शून्य की अवधारणा के बिना भी वर्तमान शिक्षा प्रणाली में कोई कमी महसूस नहीं की जा रही है तो फिर इनकी जानकारी देने या न देने से क्या फर्क पड़ने वाला है। इसी प्रकार यह दस्तावेज यूनानी को भी भारतीय चिकित्सा पद्धति मानता है जो एक विवाद को पुनर्जन्म देने वाला कथन है ।

शिक्षा को कार्य संसार से जोड़ने के अन्तर्गत कहा गया है कि कार्य शिक्षा और व्यवसायिक शिक्षा हमारी विद्यालयी शिक्षा पद्धति के अभिन्न घटक हैं । इन क्षेत्रों में अलग-अलग सीमाओं तक सफलता प्राप्त हुई है । एक सोद्देश्य सार्थक शारीरिक क्रिया कलाप के रूप में कार्यानुभव से संबंधित वर्तमान नीति को पाठ्यचर्या के एक अंग के रूप में कायम रखा जा सकता है । पता नहीं एनसीईआरटी के ये विद्वान शिक्षाशास्त्री विद्यालयी शिक्षा के यथार्थ से क्यों अनभिज्ञ है अथवा जान बूझकर आंखें मूंदे हुए हैं । यदि ऐसा नहीं होता तो ये यह कदापि नहीं लिखते कि शारीरिक कार्य के प्रति सकारात्मक रूख विकसित करने के लिए कार्यानुभव एक अर्थपूर्ण कार्यनीति है। वास्तविकता यह है कि इसे स्कूलों में महज औपचारिकता निर्वाह के रूप में संपन्न कराया जाता है जिससे यह काम अपने आप में एक मजाक बन कर रह गया है । इसी प्रकार व्यावसायिक शिक्षा को भी लोगों द्वारा वह मान्यता नहीं मिली है जिसकी उम्मीद थी । अब आगे इन्हें जारी रखने की प्रतिबद्धता तो दर्शाई गई है पर कैसे इन्हें नया रूप देकर उद्देश्यानुरूप बनाया जायेगा इसका खुलासा कहीं नहीं किया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति की तरह वर्तमान प्रारूप भी सूचना का अनुसरण करने की बजाय अनुभव के आधार पर नये परिप्रेक्ष्य प्राप्त कराने पर जोर देता है और इसके लिए शिक्षक की परम्परागत भूमिका को बदलकर उसे मार्ग प्रशस्तकर्ता के रूप में प्रस्तुत होने के लिए कहता है । लेकिन अनेकों सेवारत प्रशिक्षण देने और शिक्षक में व्यवहारगत परिवर्तन लाने की कोशिशों के बावजूद उसका रवैया

प्राय: वही देखने में आता है जो दो तीन दशक पहले था । अब फिर इसके लिये प्रशिक्षण की रणनीति ही सुझाई गई है ।

दस्तावेज निर्माता मानते हैं कि भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में पले अलग अलग बच्चों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की अध्यापन विधियां होनी चाहिये । शहरी और ग्रामीण और जनजातीय समाजों के बच्चों के लिए उनके अनुरूप विधियों से संप्रेषित ज्ञान ही ग्राह्य हो सकता है । इसलिये कथा वाचन, नाट्यकला, कठपुतली प्रदर्शन आदि का उपयोग इस क्रम में अधिक प्रभावी हो सकता है । यह सुझाव तो ठीक है परन्तु इसके लिये सारे विद्यालयीय कार्यक्रम की पुनर्रचना करनी होगी क्योंकि कक्षा कक्षीय शिक्षण में तथा नियमित कालांशों में ऐसा कर दिया जाना संभव नहीं होगा।

इसके बाद सतत और व्यापक मूल्यांकन तथा शिक्षा एक आजीवन प्रक्रिया के पुराने संप्रत्ययों को फिर से दुहराया गया है । उनमें नया कुछ जोड़ने की या सुधारने की कोई कोशिश नहीं की गई है ।

इस सारी रूपरेखा की गंभीरता से समीक्षा करते समय बार बार यह लगता रहा है कि इसके लेखकों को विभिन्न स्तरों वाले विद्यालयों में दी जा रही शिक्षा की असलियत की जानकारी नहीं है। काश, इसके निर्माण में कुछ ऐसे शिक्षकों की भी मदद ले ली जाती जो चाहे शोध या अकादमिक डिग्रियों से कम लैस हों व शिक्षाशास्त्रीय ज्ञान की उनमें कमी हो पर प्राथमिक कक्षाओं से लेकर उच्च माध्यमिक कक्षाओं तक को कम से कम पिछले पांच-सात साल से पढ़ा रहे हों । जो दूरदराज के गांवों-ढाणियों से लेकर नगरों-महानगरों के अलग अलग तरह के विद्यालयों में कार्यरत हों। विभिन्न वर्गों के कुछ अभिभावक भी इस काम में लगते तो निश्चय ही यह दस्तावेज कृत्रिमता, दृष्टिहीनता और वस्तुस्थिति से कटा हुआ नहीं होता । कार्यानुभव और आन्तरिक मूल्यांकन को कई राज्यों के शिक्षा मंडल, उचित तरीके से क्रियान्वयन न होने के कारण, ठुकरा चुके हैं । व्यावसायिक शिक्षा को भी लोगों ने मन से स्वीकार नहीं किया है। मूल्यों की शिक्षा मात्र पुस्तकीय ज्ञान बनकर रह गई है और भी ऐसी अनेक योजनाए हैं जिन्होंने शिक्षण कार्य में सहयोग देने की बजाय व्यवधान पैदा किया है। फिर भी उनके कायाकल्प करने या उनकी जगह अन्य योजना लाने का कोई प्रावधान इसमें नहीं किया गया है। इससे साफ जाहिर होता है कि पाठ्यचर्या पुनरीक्षण के बहाने इधर उधर कुछ हेरफेर कर सरकार का नेतृत्व करने वाले एक प्रमुख दल ने अपनी विचारधारा को इसमें समाविष्ट करने की कोशिश की है और यह कोशिश भी इतने अस्वाभाविक व अतार्किक ढंग से की है कि इससे किसी को लाभ होता दिखाई नहीं देता ।

कहने को तो एनसीईआरटी एक स्वशासी संस्था है । लेकिन सरकारी अनुदान पर आश्रित रहने के कारण यह सदा शासन के नीति निर्देशों की अनुपालक रही है । इसके शीर्ष पदों पर बैठने के लिये अन्य योग्यताओं के अतिरिक्त एक योग्यता यह भी रही है कि अभ्यर्थी शासक दल की रीति-नीतियों के प्रति कितना वफादार तथा सरकारी मनसूबों को पूरा करवाने में कितना सहायक हो सकता है। पहले की सरकारें भी अपनी इच्छानुसार इस संस्था का उपयोग करती रही हैं इसलिये आज की सरकार ने ऐसा कर कोई अस्वाभाविक आचरण नहीं किया है । दोनों में अन्तर इतना रहा है कि पहले की सरकारें धर्मविशेष अथवा संस्कृति के प्रकार विशेष से प्रतिबद्ध न हो अधिक उदार, अधिक लोगों के लिए ग्राह्य भविष्योन्मुखी विचारधारा को पाठ्यचर्या में समाहित करने की कोशिशें करती थीं। उनका विरोध या आलोचना बहुत कम होती थी पर अब जो किया गया है । उस पर धर्म विशेष तथा उस अतीतजीवी सांस्कृतिक गौरव को महत्व देने की कोशिश की गई है जिसकी व्यावहारिकता आज के जमाने में संदेहास्पद है । क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय दबावों ने देश के परिवेश को इतना बदल दिया है कि अब पुन: सतयुग की ओर लौट जाना या रामराज्य के मिथक को सत्य कर दिखाना संभव नहीं रहा है ।

अन्त में एक बात और, शिक्षा का व्यवसायीकरण, उसे जीविकोन्मुख बनाना, छात्रों को नवीनतम तकनीकी ज्ञान से समृद्ध कर आने वाले समय की चुनौतियों का मुकाबला करने लायक बनाना और इसी तरह की जो बदलती अपेक्षाएं शिक्षा से की जा रही हैं, क्या इनसे यह नहीं लगता कि इस तरह की शैक्षिक प्रक्रियाओं से गुजरने वाला भावी नागरिक इतना स्वकेन्द्रित, यथास्थिति का पोषक और उपभोक्ता संस्कृति का संवर्धक होगा कि उसे अपने समाज, असंस्कृति व देश से तथा समकालीन राजनीति से कोई सरोकार नहीं होगा । ऐसा नागरिक निरापद होने के कारण सत्तासीन और सत्ताकामी राजनेताओं, धर्म की आड में अपना व्यवसाय चलाने और अनुयायियों का शोषण करने वाले धर्माधिकारियों के लिये शुभ होता है । कहीं इस तरह की पाठ्यचर्याओं का निर्माण और पुनरीक्षण ऐसे ही अनुकूलित नागरिक तैयार करने की सुविचारित योजना का अंग तो नहीं है ? इस बात पर गहराई से विचार करने की जरूरत है । क्योंकि पाउलो फ्रेरे कहता है कि शिक्षा की उपयोगिता की एकमात्र कसौटी यह होनी चाहिये कि वह व्यक्ति की राजनैतिक चेतना को कितनी प्रखर या भोंथरी बनाती है । हमें भी अपनी शिक्षण प्रक्रिया का मूल्यांकन इसी कसौटी के आधार पर करना चाहिये ।◆